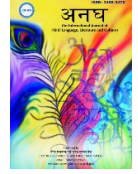




## अनघ (An International Journal of Hindi Language, Literature and Culture)

Journal Homepage: <http://cphfs.in/research.php>



### साहित्य और विचारधारा का संबंध (सन्दर्भ: प्रगतिवादी और गैर-प्रगतिवादी आलोचना)

डॉ. चन्द्रशेखर चौबे

असिस्टेंट प्रोफेसर, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान,

दीमापुर, नागालैंड

shekharjnu2@gmail.com

**शोध-सार** - साहित्य और विचारधारा के बीच एक प्रकार से रचनात्मक संबंध होता है। कोई भी विचारधारा सम्पूर्ण रूप से हमेशा के लिए प्रासंगिक नहीं रहती क्योंकि समाज विकासशील है। अतः युग परिवर्तन के साथ विचारधारा भी पुरानी पड़ जाती है, उसे नवीन परिस्थितियों के अनुसार तराशना पड़ता है। स्वातंत्र्योत्तर यथार्थ के अनुसार प्रगतिवादी विचारधारा अपने को परिवर्तित नहीं कर पायी, इसीलिए वह कोरा ज्ञान और सिद्धांत बनकर रह गयी थी। मुक्तिबोध कहते हैं कि केवल सैद्धांतिक रूप से यथार्थ का पूर्ण बोध नहीं होता। मनुष्य के बौद्धिक उपादान क्रमशः विकसित होते हैं, बदलते हैं, किन्तु वे यथार्थ की गति के साथ ही बदलते रहेंगे, विकासमान होंगे, यह आवश्यक नहीं होता। यथार्थ बहुत आगे बढ़ जाता है, विकास-क्रम में। बौद्धिक उपादान पीछे छूट जाते हैं, कभी-कभी। इसीलिए बौद्धिक उपादानों के निरन्तर विकास की भी आवश्यकता होती है। मनुष्य का ज्ञान कितना कालसापेक्ष और स्थिति सापेक्ष है, यह चिन्तन के इतिहास से जाना जा सकता है। यही कारण है कि विचारधारा का विकास होता आया है। कलाकार के लिए आवश्यक नहीं कि वह कोई दार्शनिक आधार ग्रहण करे। कलाकार के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह किसी बंधे बंधाये वैचारिक ढाँचे को अपनी कला की श्रेष्ठता उपस्थित करने के लिए यान्त्रिक रूप से स्वीकार करे। क्योंकि एक कलाकार के लिए यथार्थ महत्वपूर्ण है, जीवन यथार्थ महत्वपूर्ण है, विचारधारा या कोई सिद्धांत अथवा दार्शनिक आधार नहीं।

#### साहित्य, राजनीति और विचारधाराओं के सम्बन्ध का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

‘विचारधारा’ आधुनिक शब्द है। साहित्य और विचारधारा के संबंध का प्रश्न साहित्य और आधुनिक राजनीति के संबंध से जुड़ा हुआ है। साहित्य और राजनीति का संबंध बहुत पुराना है। लोक-साहित्य के समानान्तर राज्याश्रय में साहित्य की रचना बराबर की जाती रही। परंतु आधुनिक काल से पहले तक साहित्य पर राजनीति का प्रभाव उतना नहीं था जितना धर्म और दर्शन का था। 19वीं-20वीं सदी में अनेक चिंतक पैदा हुए, जिनके विचारों ने साहित्य को प्रभावित किया। लेकिन 1917 की रूसी क्रांति के

बाद भारत की राजनीति के साथ साथ भारतीय साहित्य पर भी मार्क्स के चिंतन और विचारों का जबरदस्त प्रभाव पड़ा, जिसके कारण साहित्य के उद्देश्य में ही क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित हुआ। साहित्य अब मनोरंजन, आनन्द और उपदेश से आगे बढ़कर सामाजिक परिवर्तन का एक माध्यम माना जाने लगा। ‘प्रगतिशील लेखक संघ’ के गठन के साथ साहित्य की अन्य विधाओं सहित आलोचना में भी मार्क्सवादी विचारधारा का जबरदस्त हस्तक्षेप हुआ। परंपरागत शास्त्रीय आलोचना को ध्वस्त करने के लिए मार्क्सवादी-प्रगतिवादी आलोचना ध्वंसात्मक रुख अख्तियार करने लगी। इसी के फलस्वरूप हिन्दी जगत में साहित्य और विचारधारा के संबंध पर बहस की शुरुआत हुई। स्वतंत्रता के

आस-पास कम्युनिस्ट पार्टी के प्रभाव से 'प्रगतिशील लेखक संघ' ने आचार संहिता के द्वारा एक तरह से प्रगतिवादी साहित्य और आलोचना में कट्टरता का प्रसार करना चाहा। इसके परिणाम स्वरूप नयी कविता-आंदोलन के उभार के साथ साहित्य और विचारधारा के संबंध पर होने वाली बहस पूरी तरह नयी कविता के आलोचकों के पक्ष में चली गई।

### प्रयोगवादी आलोचना में साहित्य और विचारधारा के सम्बन्ध पर बहस

साहित्य और विचारधारा के बीच एक प्रकार से रचनात्मक संबंध होता है। 'तारसमक' के प्रयोगशील कवि मार्क्सवादी-प्रगतिवादी स्कूल से प्रभावित और कुछ हद तक दीक्षित भी हुए थे, लेकिन पुराने प्रगतिवादियों की तरह ये मार्क्सवाद के अंध समर्थक नहीं थे। ये किसी भी दर्शन, वाद अथवा विचारधारा को ठोक-बजाकर आत्मसात करते थे। मार्क्सवाद के ऐतिहासिक महत्व के बारे में स्वयं अज्ञेय की राय यह थी कि "सबसे पहले इतिहास को समझने की वह एक पद्धति है - और अत्यन्त उपयोगी पद्धति है - उससे हमें इतिहास की गतिविधि पर एक नयी दृष्टि मिली है। दूसरे वह एक उपयोगी अर्थ-दर्शन है। समाज की अर्थव्यवस्था को समझने में वह सहायक हुआ है, उसके परिवर्तन और सुधार की दिशाओं का संकेत वह देता है।" [1] अज्ञेय मार्क्सवाद को उपयोगी अर्थ-दर्शन तो मानते हैं पर उसे 'जीवन-दर्शन' या 'युग का सबसे बड़ा जीवन-दर्शन' किसी भी तरह से नहीं मानते। उनकी दृष्टि में, "आधुनिक युग का कोई भी सन्तोषजनक जीवन-दर्शन किसी एक व्यक्ति के अवदान पर आधारित नहीं हो सकता। वह कई क्षेत्रों की कई प्रतिभावों के अवदान का और कई विद्वानों के शोध की उपलब्धियों का समन्वय मांगता है" (आत्मनेपद, पृ.147)। प्रगतिवादियों के वैचारिक 'रेजीमेण्टेशन' पर अज्ञेय कहते हैं "कला पर ऐच्छिक नियंत्रण लगाने से, उसे किसी निर्दिष्ट दिशा में चलाने के प्रयत्न से, विज्ञान मिल सकता है, अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र आदि मिल सकते हैं, साहित्य नहीं मिल सकता।" [2] श्रेष्ठ साहित्य किसी विचारधारा का आनुषंगिक नहीं होता। "यदि कलाकार सचमुच कलाकार है, निरा प्रचारक नहीं, तो उसकी प्रेरणाशक्ति एक निगूढ और अत्यन्त व्यक्तिगत विवशता है जिसके कारण वह संसार की सत्यता को चित्रित करने को बाध्य होता है।" अज्ञेय कहते हैं कि "साहित्यकार यद्यपि किसी एक दिशा में जाता है अवश्य, तथापि वह दिशा बाह्य आदेशों द्वारा निश्चित नहीं होती, कवि की व्यक्तिगत परिस्थिति - उसकी आंतरिक और बाह्य परिस्थिति से उत्पन्न व्यक्तिगत विवशता - उसे निश्चित करती है। अतएव, किसी एक दिये हुए ढांचे पर साहित्य का निर्माण करने या कराने की आशा भी भ्रामक है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कला केवल

एक निरुद्देश्य उद्गार है, उच्छ्वास है, कलाकार के अंतस् की दलदल से उठा हुआ एक बुलबुला मात्र। साहित्य भी समाज को प्रेरणा दे सकता है, 'आगे' बढ़ने को विवश कर सकता है, किंतु तभी जब लेखक में स्वभावतः उस प्रेरणा से उत्पन्न हुआ असंतोष, अशांति, विद्रोह भाव हो..... कलाकार की कृतित्व शक्ति किन्हीं बौद्धिक सीमाओं में बंध कर नहीं चलती, वह केवल चलती है।" अतः जनवादी विचारधारा की रट लगाने से साहित्य जनवादी नहीं हो जाता। "जनता के लिए वह लिखेगा जो उससे भाव-साम्य का अनुभव करे; जो जाने कि उन की जड़ें भी उस विराट जनता जनार्दन की पीठिका में से निकली हैं; जो उन जड़ों में जनजीवन के रस का स्पंदन अनुभव करे" (सर्जना और संदर्भ, पृ.42)।

रघुवीर सहाय को भी शमशेर बहादुर सिंह का यह कहा बराबर याद रहा कि "जिंदगी में तीन चीजों की बड़ी जरूरत है: आक्सीजन, मार्क्सवाद और अपनी वह शक्ति जो हम जनता में देखते हैं।" लेकिन उन्होंने अपने जीवन-संघर्ष के बीच यही सीखा कि "मार्क्सवाद को कविता पर गिलाफ़ की तरह चढ़ाया नहीं जा सकता। उसके लिए मध्यवर्गीय, धोखा खते रहने वाले दुलमुल-यकीन को अपनी बौद्धिक चेतना को जागरूक रखना पड़ेगा और बराबर जागरूक रह कर एक दृष्टिकोण बनाना होगा। यह दृष्टिकोण सामाजिक, वास्तविक, साम्यवादी और इसलिए सही और स्वस्थ होगा। तभी कविता में जान और माने पैदा होंगे।" [3]

धर्मवीर भारती भी मार्क्सवाद के क्रांतिकारी प्रभाव को स्वीकार करते हुए लिखते हैं - "अतीत के प्रति केवल एक रुमानी भावोन्मादपूर्ण, या अन्ध श्रद्धापूर्ण आग्रह के स्थान पर वैज्ञानिक दृष्टि रखने की चेतना हमें सबसे पहले मार्क्सवादियों ने दी, इसमें कोई सन्देह नहीं।" किंतु "यह सचमुच ही समय का एक अत्यन्त निर्मम परिहास था कि कई कारणों से यह मार्क्सवादी बौद्धिक आन्दोलन स्वतः कतिपय ऐतिहासिक दायित्वों को अस्वीकार करता गया, कल्पित धारणाओं और भ्रान्तियों को प्रश्रय देता गया और अन्त में सारे ऐतिहासिक सन्दर्भों से कटकर अलग जा गिरा और अक्सर यह विचित्र दृश्य देखने में आने लगा कि रूढ़िवादी और प्रगतिवादी एक सम्मिलित शिविर में एकत्र हैं क्योंकि वास्तविक ऐतिहासिक सन्दर्भ से दोनों ही विचिछन्न हो गये हैं। ज्यों ज्यों मार्क्सवादी इस स्थिति में आते गये त्यों-त्यों अतीत के प्रति उनकी भी दृष्टि दोषपूर्ण होती गयी और बजाय निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टि के उनका आकलन केवल तात्कालिक नीति कौशल ;ज्वजपवेद्ध को प्रतिबिम्बित करने लगा।" [4] इस प्रकार प्रायः सभी प्रयोगशील नये कवि-लेखक मार्क्सवादी विचारधारा समेत सभी विचारधाराओं के प्रति इसी तरह की आलोचनात्मक दृष्टि रखते हुए रचना और आलोचना में सक्रिय हुए। इन्होंने रचना में

किसी भी विचारधारा का अंधानुकरण रचना के लिए अहितकर समझा।

1940 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के चैथे अभिभाषण में नन्ददुलारे वाजपेयी ने कहा था, “हमारी दृष्टि आज बौद्धिक वादों और उनके साहित्यिक निरूपणों की ओर इतनी अग्रसर है कि हम मुख्य कला-विवेचन को ही छोड़ बैठे हैं। यही कारण है कि हम वाद-विशेष का नाम लेकर रचना करने वालों के प्रति एक धारणा कायम कर लेते हैं और फिर किसी प्रकार उसे छोड़ने को तैयार नहीं होते। हमारी निष्पक्ष कला-दृष्टि संकुचित हो जाती है।” [5] वाजपेयी जी ने विचारधारा की अपेक्षा उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति को महत्व देते हुए कहा था, कि “...कोई भी वाद या विचारधारा जब कलारूप में आवेगी तो मानसिक माध्यम से होकर ही...। यदि मानसिक माध्यम स्वतः समुन्नत नहीं तो कोई भी वाद श्रेष्ठ कला के निर्माण में सहायक नहीं हो सकता और और यदि मानसिक माध्यम सुसंपन्न है तो हमें यह देखना होगा कि उस माध्यम में मानस-साक्षात्कार कराने की, कलात्मक अभिव्यक्ति की शक्ति कितनी है। इसलिए मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि वाद कौन सा है, बल्कि मुख्य प्रश्न यह है कि.... किसी वाद-विशेष को रचयिता ने किस रूप में ग्रहण किया है और उसमें काव्यशक्ति कितनी है” (हिन्दी साहित्य की समस्याएँ, पृ.134)।

‘प्रगतिशील लेखक संघ’ के भीतर रेजिमेण्टेशन के कारण कवि-लेखक मार्क्सवादी विचारधारा के प्रचारक साहित्य लिख रहे थे, कुछ दूसरे भी प्रगतिवाद के प्रभाव में सैद्धांतिक अनुकथन करने लगे। नामवर सिंह भी लिखते हैं - “कुछ लोग सिद्धांतों के अनुकथन को ही ऊँची कविता समझते हैं। ...पन्तजी ने भी ‘युगवाणी’ की कविताओं में यही किया है। ...इधर नवीन, दिनकर, उदयशंकर भट्ट को भी दार्शनिक सूक्तियं पद्यबद्ध करने की आदत पड़ने लगी है। प्रगतिशील काव्य तथा कथा-साहित्य के नाम पर भी इसी तरह कोरे मार्क्सवादी विचारों की अभिव्यक्ति हुई है।” [6]

‘तारसप्तक’ के कवियों का व्यक्तित्व स्वतंत्रता-संघर्ष के बीच कठिन जीवन-संघर्ष करते हुए निर्मित हुआ था, उनकी विचारधारा भी उनके जीवन-संघर्ष की उपज थी, इसीलिए वे किसी भी वाद या विचारधारा के अंध-समर्थक नहीं हुए। कोई भी विचारधारा सम्पूर्ण रूप से हमेशा के लिए प्रासंगिक नहीं रहती क्योंकि समाज विकासशील है। अतः युग परिवर्तन के साथ विचारधारा भी पुरानी पड़ जाती है, उसे नवीन परिस्थितियों के अनुसार तराशना पड़ता है। स्वातंत्र्योत्तर यथार्थ के अनुसार प्रगतिवादी विचारधारा अपने को परिवर्तित नहीं कर पायी, इसीलिए वह कोरा ज्ञान और सिद्धांत बनकर रह गयी थी। मुक्तिबोध लिखते हैं, “केवल सैद्धांतिक रूप से यथार्थ का पूर्ण बोध

नहीं होता। मनुष्य के बौद्धिक उपादान क्रमशः विकसित होते हैं, बदलते हैं, किन्तु वे यथार्थ की गति के साथ ही बदलते रहेंगे, विकासमान होंगे, यह आवश्यक नहीं होता। यथार्थ बहुत आगे बढ़ जाता है, विकास-क्रम में। बौद्धिक उपादान पीछे छूट जाते हैं, कभी-कभी। इसीलिए बौद्धिक उपादानों के निरन्तर विकास की भी आवश्यकता होती है। ... मनुष्य का ज्ञान कितना कालसापेक्ष और स्थिति सापेक्ष है, यह चिन्तन के इतिहास से जाना जा सकता है। यही कारण है कि विचारधारा का विकास होता आया है।” [7] कलाकार के लिए आवश्यक नहीं कि वह कोई दार्शनिक आधार ग्रहण करे। कलाकार के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह किसी बँधे बँधाये वैचारिक ढाँचे को अपनी कला की श्रेष्ठता उपस्थित करने के लिए यान्त्रिक रूप से स्वीकार करे। क्योंकि एक कलाकार के लिए यथार्थ महत्वपूर्ण है, जीवन यथार्थ महत्वपूर्ण है, विचारधारा या कोई सिद्धांत अथवा दार्शनिक आधार नहीं। “कोई भी विचारधारा मात्र एक बौद्धिक उपादान है - यथार्थ के स्वरूप, उसकी गतिविधि, उसकी वर्तमान अवस्था, उसकी दिशा को जानने का।” इस तरह कलाकार जीवन-जगत और जीवन-यथार्थ की व्याख्या के लिए कोई सिद्धांत व्यवस्था विकसित करता है, कोई दार्शनिक भाव-धारा स्वीकार करता है अथवा अपना एक वैचारिक दृष्टिकोण निर्मित करता है। मुक्तिबोध लिखते हैं, “कलाकार अपने औचित्य की स्थापना के लिए, आत्म-विस्तार के लिए, अपने को उच्चतर स्थिति में उद्बुद्ध करने के लिए, अपना अंतःसंगम दार्शनिक भाव-धाराओं से करता है। चूंकि वह कलाकार है, इसलिए वह कला में जीवन-चित्र ही प्रस्तुत करता है, न कि दर्शन की व्याख्या। किन्तु, उसके पास अपना एक वैचारिक दृष्टिकोण रहता ही है, जो एक मूल्यांकन कर्त्री और नियंत्रणशील शक्ति के रूप में उसकी कलाकृति के रूप तत्व और तत्व रूप को नियमित करता है।” अतः “यह निश्चित है कि लेखक के व्यक्तित्व का एक पक्ष वैचारिक है, और यह वैचारिक पक्ष अपनी पूरी वैचारिकता भले ही कलाकृति में उपस्थित न करे, वह स्वयं ओझल रहकर, किन्तु एक शक्ति के रूप में, उसके उस संवेदनात्मक-अनुभवात्मक पक्ष का, जो कि कलाकृति में उपस्थित होता है, नियमन-नियंत्रण अवश्य ही करता है।” तात्पर्य यह कि “कलाकार का अन्तर्मन विचारों को आत्मानुभूत जीवन-संदर्भों से एकाकार करके ग्रहण करता है। अन्तर्मन में उपस्थित वास्तविक जीवन विचारों में प्रवाहित होता है। विचारों की यह प्रवहणशीलता लेखक की सारी संवेदनाओं से मिलकर उसके अंतर्जीवन का अंश बन जाती है” (मुक्तिबोध रचनावली: पाँच, पृ.347,348)। इसीलिए कला की स्वतंत्र इयत्ता होती है, श्रेष्ठ कला या रचना किसी विचारधारा अथवा साहित्य-सिद्धांत का

अनुगमन नहीं करती। विचारधारा लेखक या कलाकार के जीवन-अनुभव का अंग बनकर उसके जीवन-संदर्भों से एकाकार होकर ही उसकी रचना में उतरती है या प्रक्षेपित होती है। विचारधारा मात्र का अनुगमन करनेवाली काव्य-परिपाटी अधिक दिनों तक नहीं चल सकती। 'प्रगतिवाद' और 'नयी कविता'-आंदोलन के अंत होने का यही कारण है।

### प्रगतिवादी आलोचना में साहित्य और विचारधारा के सम्बन्ध पर बहस

प्रगतिवादी आलोचक साहित्य और विचारधारा के संबंध को साहित्य और मार्क्सवादी विचारधारा के संबंध के रूप में देखते हुए उस पर विचार करते हैं। प्र.ले.सं. के भीतर 'रेजीमेण्टेशन' का दौर खत्म होने के बाद शिवदान सिंह चैहान, अमृतराय, रामविलास शर्मा - ये सभी प्रगतिवादी आलोचक मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति पूर्णतः प्रतिबद्ध होते हुए भी विचारधारा को लेखक के वर्ग-विशेष की आर्थिक स्थिति का द्योतक और उसके साहित्य को उस विचारधारा का प्रतिबिम्ब मात्र मानने का विरोध करते हैं और इसे वे 'यांत्रिक भौतिकवाद' की संज्ञा देते हैं। क्लिंजेंडर के हवाले से अमृतराय लिखते हैं कि "यह कहना कि किसी लेखक की विचारधारा उसकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति से इस बुरी तरह जकड़ी होती है कि वह हिल-डोल नहीं सकता, मार्क्सवाद की टांग तोड़ना है। जिस वर्ग में कलाकार जन्म लेता है उसके लौकिक दृष्टिकोण के अनुसार उसकी एक विशेष विचारधारा बन जाती है।" जिसे वह अपनी कृतियों में अभिव्यक्ति भी करता है। "लेकिन विशेष परिस्थितियों में ऐसा हो सकता है कि वह अपने वर्ग-हितों के विरोध में खड़ा हो जाय; कभी कभी ऐसा भी हो सकता है कि कलाकार के रूप में अपनी ईमानदारी और अपनी सच्चाई को बनाये रखने के लिए, अपने वर्ग-हितों का विरोध करना उसके लिए अनिवार्य हो जाय।" [8] अमृतराय साहित्य में समाज की वास्तविकता और युग के सामूहिक भाव की अभिव्यक्ति को महत्वपूर्ण मानते हुए लिखते हैं - "समाज क्षण-क्षण विकास करता है। समाज का यह विकास सर्वांगीण होता है। राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति के साथ-साथ विचारों के क्षेत्र में भी क्षण-क्षण यही विकास हुआ करता है इसलिए विशेष सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप तत्कालीन समाज में विशेष प्रकार के सामूहिक भावों की स्थिति पायी जाती है।" कोई साहित्यकार इस सामूहिक भाव की अभिव्यक्ति साहित्य में तभी कर पायेगा, जब वह संपूर्ण रूप में जनता के जीवन के साथ अपने को एकाकार कर देगा" (नयी समीक्षा, पृ.16)। अतः जिस अनुपात में जीवन की वास्तविक सच्ची अभिव्यक्ति किसी साहित्य में आयेगी, उसी अनुपात में वह साहित्य मानव-मात्र के हित-संबन्धी अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकेगा।

शिवदान सिंह चैहान का भी कहना है कि "सच्चा कलाकार या साहित्यकार अपनी वस्तुनिष्ठा और संवेदना के सहारे समाज-लब्ध वर्ग-विचारधारा और विचार-सूत्रों के ही माध्यम से सामाजिक और व्यक्ति जीवन की वास्तविकता को अभिव्यक्ति देता है, और इस प्रकार सामाजिक सत्य का उद्घाटन करता है।" दूसरे शब्दों में, "कला चूंकि वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है इसलिए उसमें व्यक्त किसी भी विचार की सच्चाई वास्तविकता से तुलना करके ही जांची जा सकती है।" [9] अतः "सचेत दृष्टिकोण या विचारधारा कला की सृजन-शक्ति नहीं है, उसकी अत्यन्त शक्तिशाली सहायक या संरक्षक ही हो सकती है।" लेकिन "इसके विपरीत जो इस बात का दावा करते हैं कि दृष्टिकोण या विचारधारा कला पर बंधन बन जाती है, इसलिए लेखक को उससे कोई सरोकार नहीं रखना चाहिए, वे भी गलत हैं। ...यदि विचार लेखक की चेतना की पिटारी में ही बंद न रहकर उसके मानस में आत्मसात हो जायँ और उसकी सहज वृत्तियों को जगाने वाली सहज भावना, मनोवृत्ति या संस्कार भाव बन जायँ, अर्थात् अगर लेखक इन विचारों के साथ 'रहने' लग जाय तो ये विचार उसकी रचना को अधिक सर्वजनीनता, व्यापकत्व और सारपूर्णता दे सकते हैं" (साहित्य की समस्याएँ, पृ.96-97)। चैहान जी इस सचेत दृष्टिकोण या विचारधारा को साहित्य और कला से संयोग कराना इसलिए अत्यंत जरूरी समझते हैं क्योंकि इस युग के विश्वव्यापी संघर्ष में साम्राज्य-प्रतिक्रिया की जो शक्तियाँ मनुष्य की गुलामी को स्थायी बनाने के लिए 'युद्ध की तैयारियाँ कर रही हैं वह सचेत रूप से कला और साहित्य का प्रयोग हिंस्र और पाशविक वृत्तियाँ जगाकर मनुष्य को अपनी मनुष्यता से च्युत करने और 'अपराजेय जनता' की एकता को तोड़ने के लिए कर रही है। अर्थात् फासिस्ट शक्तियों से संघर्ष के लिए कम्युनिस्ट विचारधारा की आवश्यकता साहित्य और कला समेत सभी मोर्चों पर है।

रामविलास शर्मा साहित्य और कला में विचारधारा के सचेत प्रयोग के पक्षधर नहीं हैं। उनका मानना है कि "संस्कृति किसी समाज व्यवस्था के आर्थिक संबंधों का विचारधारागत प्रतिबिम्ब है, इस गलत स्थापना में 'विचारधारागत' वाला हिस्सा सबसे गलत है। कुछ लोग संस्कृति को विचारधारा मात्र मानते हैं, इसी धारणा के अनुरूप वे साहित्य को - कभी कभी चित्रकला और संगीत को भी - विचारों का संकलन मात्र समझ बैठते हैं। उनकी आलोचना में विचारों की परख होती है, अन्य तत्व अछूते रह जाते हैं।" [10] शर्मा जी कहते हैं कि "संस्कृति में अनेक तत्व हैं। विचारधारा उसका एक तत्व है, एक मात्र तत्व नहीं। विचारधारा के साथ भावधारा भी है, भावधारा के साथ इन्द्रियबोध है, इन सबके साथ हमारा सौंदर्य बोध है..." स्वयं मार्क्स ने विचारधारा के अंतर्गत

मनुष्य के सौंदर्यबोध को भी गिना है। अतः साहित्य भी शुद्ध विचारधारा का रूप नहीं है; उसका भावों और इन्द्रियबोध से घनिष्ठ संबंध है। "कला के माध्यम के अनुरूप उसकी विषयवस्तु में इन्द्रियबोध, भावों और विचारों का अनुपात निश्चित होता है। साहित्य से भिन्न चित्र, संगीत आदि ललित कलाओं में इन्द्रियबोध और भाव होंगे, विचार नहीं। कोई भी ललित कला शुद्ध विचारधारा के अंतर्गत नहीं आती, साहित्य भी नहीं आता। साहित्य विचारशून्य नहीं होता किन्तु शुद्ध विचारों से साहित्य का निर्माण नहीं होता। विचारों के साथ इन्द्रियबोध और भाव अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं" (आस्था और सौंदर्य, पृ.36)। अतः कविता को विचारधारा मात्र समझना कविता में भावों, संस्कारों, सौंदर्यबोध आदि से विचारधारा के संबंध को भुला देना है। यह यांत्रिक भौतिकवाद है।

प्रो. मैनेजर पाण्डेय का मानना है कि रचना में विचारधारा अनिवार्य रूप से होती है। मार्क्स-एंगेल्स के हवाले से वे लिखते हैं कि "विचारधारा केवल विचारों की धारा नहीं है, उसमें विचार, आस्था, विश्वास और मूल्य चेतना का भी योग होता है। वह एक विशेष ऐतिहासिक संदर्भ में बनी सामाजिक चेतना है, उस चेतना की गतिविधियों की संघटना है, उसमें चेतना को अपने अनुकूल बनाने की क्षमता भी होती है। एक विचारधारा में अपने समय के यथार्थ से काल्पनिक सम्बन्ध व्यक्त होते हैं तो दूसरी में यथार्थ से वास्तविक सम्बन्ध भी, उसमें यथार्थ का भ्रम होता है और वास्तविकता भी, यथार्थ का सच्चा बोध होता है और यथार्थ की विकृति भी। अपने युग के यथार्थ से सम्बन्ध के रूप के अनुरूप ही विचारधारा का स्वरूप बनता है। इस सम्बन्ध के अनुसार ही वह प्रतिक्रियावादी या क्रांतिकारी होती है। ...विचारधारा का ऐतिहासिक सन्दर्भ, जीवन-स्थिति और वर्ग से अनिवार्य संबंध होता है। एक विचारधारा शोषण और दमन का साधन बनती है तो दूसरी मुक्ति का माध्यम भी होती है।" [11] अतः विचारधारा सापेक्ष रूप से स्वतंत्र होती है। लुई अल्थुसर के हवाले से पाण्डेय जी कहते हैं कि कला और विचार के बीच विशिष्ट संबंध है। "कला विचारधारा से पैदा होती है, लेकिन पैदा होने के साथ ही आन्तरिक अलगाव की प्रक्रिया के सहारे वह विचारधारा से स्वतंत्र हो जाती है। कला विचारधारा से स्वतंत्र होकर विचारधारा की ओर संकेत करती है।" इसीलिए "कला का प्रभाव केवल सौंदर्यबोध ही नहीं, विचारधारात्मक भी होता है।" अतः 'कला और कलाकार की विचारधारा विहीनता एक भ्रम है।' "सच्चाई यह है कि विचारधारा रचना का केवल एक तत्व नहीं है। वह रचना की उत्पत्ति में होती है और प्रभाव में भी। वह अन्तर्वस्तु में होती है और रूप में भी, बल्कि दोनों की संघटना में होती है। वह जीवन-जगत् के प्रति रचनाकार के दृष्टिकोण में ही नहीं होती, उसकी

रचना-दृष्टि में भी होती है। वह यथार्थ के बोध और पुनर्सृजन में होती है। वह कृति की सम्पूर्ण संरचना में होती है, यहाँ तक कि वह भाषा, शैली और टेकनिक में भी मौजूद होती है" (शब्द और कर्म, पृ.17)।

### साहित्य और विचारधारा के संबंध का तात्त्विक विश्लेषण

अज्ञेय साहित्य में विचारधारा की जगह 'जीवन-दर्शन' को महत्व देते हैं। उनका मानना है कि कोई भी विचारधारा शाश्वत नहीं, क्योंकि हमारा समाज विकासशील है, बुद्धि विकासशील है। "नीतियां सापेक्ष हैं। रूढ़ियां निरंतर बदलती रहती हैं। अतः नैतिक कसौटियां सापेक्ष हैं, प्रगति भी सापेक्ष है। फलतः आज जो प्रगति है, कल वही प्रति-गति भी हो सकती है। और यदि ऐसा है, तब प्रगतिवादी आलोचक की कसौटियां साहित्य की कसौटियां नहीं हैं, क्योंकि साहित्य आत्यंतिक होने का दावा करता है, शाश्वत और चिरंतन होने का दावा करता है। वह मांगता है कि जो उस पर निर्णायक बनकर बैठे उसकी कसौटी भी शाश्वत और चिरंतन हो" (सर्जना और संदर्भ, पृ.48)। इसीलिए अज्ञेय साहित्य में विचारधारा की जगह 'जीवन-दर्शन' को महत्व देते हैं। वे लिखते हैं कि "प्रत्येक संस्कृति के मूल में एक जीवनदर्शन होता है। इसीलिए प्रत्येक कला के मूल में भी एक जीवनदर्शन होता है। आवश्यक नहीं कि उसके प्रति कला सचेत भी हो; वह अंशतः या संपूर्णतया अवचेतन भी हो सकता है। पर उसका होना अनिवार्य है। कलाकार का विवेक उसी पर आश्रित है, उसी से उसके मूल्य या प्रतिमान निःसृत होते हैं। कलाकार या साहित्यकार की शिक्षा अथवा संस्कार के कारण यह जीवनदर्शन कम या अधिक चेतन हो सकता है। उसी के साथ-साथ उस दर्शन की उस कलाकार द्वारा की गयी व्याख्या भी उतनी ही कम या अधिक विश्वसनीय होती है। जैसे जैसे जीवनदर्शन बदलता है वैसे ही संवेदना भी बदलती जाती है" (सर्जना और संदर्भ, पृ.80)। और वैसे वैसे साहित्य भी बदलता है और साहित्य के प्रतिमान भी बदलते हैं।

रामविलास शर्मा रचना में विचारधारा और जीवन-दर्शन से अधिक संवेदना को महत्व देते हैं। 'उपन्यास और लोक-जीवन' की भूमिका में वे लिखते हैं कि मार्क्सवाद या गांधीवाद ही किसी लेखक को कलाकार नहीं बना देता। कलाकार बनने के लिए जीवन दर्शन से अधिक मार्मिक सहानुभूति आवश्यक है, दृष्टिकोण से अधिक वह दृष्टि आवश्यक है जो जीवन के हर पहलू को देख सके। "उपन्यासकार के जीवन-दर्शन का महत्व होता है, किन्तु गलत दृष्टिकोण होने पर भी अपनी सहानुभूति, संवेदनाओं और सामाजिक जीवन की जानकारी के बल पर उपन्यासकार श्रेष्ठ कृतियां दे सकता है। बालजाक 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध पर छाया हुआ था और तोल्स्तोय उस सदी के उत्तरार्द्ध पर हावी थे - इन दोनों का ही दार्शनिक दृष्टिकोण प्रतिक्रियावादी था। कलाकार के

लिए एक मूल वस्तु है संवेदना, सामाजिक जीवन से व्यापक परिचय, अपने पात्रों से उचित अनुपात में सहानुभूति या घृणा। इनके साथ सही जीवन दर्शन भी हो तो कहना ही क्या! किन्तु उन मौलिक गुणों के बिना सही जीवन दर्शन के आधार पर कोई महान कलाकार नहीं बन सकता। [12]

नामवर सिंह भी कहते हैं कि “विचार जिस प्रकार प्राप्त होता है, उसी प्रकार अभिव्यक्त भी होता है। यदि वह पुस्तकों से प्राप्त होता है, तो पुस्तकी ढंग से प्रकट होता है; यदि वह जनारण्य से दूर एकान्त कमरे में आराम कुर्सी के चिन्तन से प्राप्त होता है, तो रचना में भी एकान्त और वैयक्तिक चिन्तन का रूप लेता है; और यदि वह जीवन के संघर्षों में कुछ निछावर करने से प्राप्त होता है, तो उसी गर्मी, उसी ताजगी, उसी सजीवता, उसी सक्रियता तथा उसी कृत्रिमता के साथ रूपायित होता है” (इतिहास और आलोचना, पृ.23)। इसीलिये मुक्तिबोध कविता में विचारधारा से अधिक ‘वास्तविकता के आकलन’ की दृष्टि को महत्व देते हैं। वे कहते हैं - “आज का कवि तब तक अपनी चेतना का संस्कार नहीं कर सकता, तब तक वह वस्तुतः आत्मचेतस हो ही नहीं सकता, जब तक वह विश्व-चेतस न हो। दूसरे शब्दों में कवि-हृदय आज के जगत के मूल-द्वन्द्वों का अध्ययन करे, अर्थात् अपनी सम्पूर्ण चेतना द्वारा आज की वास्तविकता की तह में घुसे और ऐसी विश्व-दृष्टि का विकास करे, जिससे व्यापक जीवन-जगत की व्याख्या हो सके” (मुक्तिबोध रचनावली: पाँच, पृ. 200-201)। “किन्तु विश्वदृष्टि का विकास तब तक नहीं होगा, जब तक हम मानवता के भविष्य निर्माण के संघर्ष में आस्था न रखें। संक्षेप में, आज एक दूसरे ही प्रकार का कवि-चरित्र चाहिए। वह नहीं कि जो निरा कार्यकन्ता है, अथवा केवल चारण है; वह भी नहीं जो आराम-कुर्सी-पसन्द बुद्धिजीवी हो। आज ऐसे कवि-चरित्र की आवश्यकता है जो, मानवीय वास्तविकता का बौद्धिक और हार्दिक आकलन करते हुए सामान्य जनो के गुणों और उनके संघर्षों से प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण करे, उसके संचित जीवन-विवेक को स्वयं ग्रहण करे, तथा उसे और अधिक निखारकर कलात्मक रूप में उन्हीं की चीज को उन्हें लौटा दे” (मुक्तिबोध रचनावली: पाँच, पृ. 201)।

शमशेर बहादुर सिंह कहते हैं कि “केवल विचारधारा या केवल ‘इमोशंस’ के बल पर बड़ा काम नहीं किया जा सकता। इसके लिए गंभीर तैयारी की जरूरत होती है।” [13] सबसे पहले कवि को अपनी ‘काव्य-परम्परा’ को आत्मसात करना पड़ता है, ‘भाषा-तत्व’ का भी गहरा अध्ययन करना पड़ता है, अपने परिवेश की गतिविधियों को सचेत होकर समझना पड़ता है और इसके साथ-

साथ उसे अपने लोक-काव्य की परंपरा से ‘भाव, संगीत और शब्द संपदा को समृद्ध करने’ के लिए लोक-जीवन से जुड़ना पड़ता है।

देवीशंकर अवस्थी कहते हैं कि विचारधारा के क्षेत्र में समाज एवं सामाजिकता पर अत्यधिक बल इस युग में दिया गया है। परिणाम यह है कि वह जनवादी बनना चाहता है, पर अपेक्षित जनवाद को अपने भीतर अनुभव नहीं कर पाता। यह अंतर्विरोध उसके व्यक्तित्व को द्विधा-विभक्त कर सृजन में एक बाधा बनकर उपस्थित होता है। उसके विचारों एवं अभिव्यक्ति में एकतानता तथा एकरूपता (कांसिस्टेंसी) का अभाव हो जाता है। अवस्थी जी को किसी राजनीतिक विचारधारा से परहेज नहीं है। उनकी दृष्टि में “राजनीतिक विश्वास अवधार्य है या हो सकते हैं, समसामयिक राजनीति में किसी से प्रतिबद्ध होना भी अनुचित नहीं है, पर उसकी सारी शब्दावली साहित्यिक विवेचन में तभी ग्राह्य हो सकती है जब वह साहित्य की अपनी प्रकृति एवं व्यापार का आंतरिक अंग बन जाय।” जबकि “राजनीतिक दलों के पक्षधरों या राज्याश्रितों ने बहुधा साहित्यिक विवेचनाओं में आन्तरिक प्रविधियों एवं साहित्य के मूल्यों को बहिष्कृत ही किया है।” [14] अवस्थी जी कहते हैं कि किसी कलाकृति में विचार या उद्देश्य का आ जाना कोई खतरा उत्पन्न नहीं करता - बशर्ते कि वह रचना में उसका उपजीव्य ‘उपादान’ बनकर आवे, उसी प्रकार से जैसे घटनाएँ, पात्र या वातावरण आते हैं। अवस्थी जी का मानना है कि आधुनिक साहित्य पर फ्रायड और मार्क्स - दोनों का गहरा प्रभाव है लेकिन इनकी ‘मैथडोलाजी का प्रयोग कला-साहित्य के क्षेत्र में छिटपुट उदाहरणों को छोड़कर ठीक से नहीं हो पाया’ है। “वास्तव में सामाजिक पृष्ठभूमि को साहित्य के साथ जोड़ने के लिए अधिक श्रम, अधिक गहरी प्रज्ञा और विश्लेषण के साथ इतिहास के निम्न बोध की अपेक्षा रहती है। मनोविश्लेषण को भी एकान्त व्यक्ति नहीं सामाजिक व्यक्ति के संदर्भ में देखना ही उपयुक्त है। ‘नयी समीक्षा’ दोनों प्रणालियों के समन्वय (थीसिसी समन्वय नहीं) की ओर बढ़ी है” (आलोचना का द्वन्द्व, पृ. 16)। साहित्य का मूल्यांकन किसी विचारधारा के आधार पर करने वालों से देवी शंकर अवस्थी कहते हैं कि साहित्य न तो दर्शनशास्त्र है न समाजशास्त्र। उसके अध्ययन की भी अपनी प्रकृति और प्रणाली है। मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक या सामाजिक सत्य रचना के भीतर तभी मूल्यवान होते हैं जब वे उसकी समग्रता, संकुलता एवं कलात्मकता की रक्षा करते हैं। प्रत्येक रचना स्व-निर्भर, एकतान एवं अत्यधिक जटिल-संकुल स्तरों वाली होती है और युग तथा रचयिता से अलग होकर उसका अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व भी होता है। उसका इसी रूप में अध्ययन प्रारंभ होना चाहिए।

आधुनिक आलोचना में विचारधारा के प्रति अतिरिक्त आग्रह पर व्यंग्य करते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं कि “इन लेखकों की अपनी भी कोई विश्व-दृष्टि हो सकती है, यह छूट इस

विचारधारा के आलोचक रचनाकार को देने को तैयार नहीं। उनके अनुसार विचारधारा तैयार करने वाले अलग और रचना बनाने वाले अलग। रचनाकार की अपनी विचारधारा होना, इस मतानुसार समाज के लिए खतरनाक होगा। ...माक्स, गांधी, अरविंद आदि में से किसने उसे पैदा किया है, यह इस कोटि के आलोचकों के लिए जानना जरूरी है। रचना रचनाकार का सृजन है - वह उसकी जननी है - यह कुछ ऐसी सीधी स्पष्ट बात है जिसको जान लेने से आलोचक का अहं तुष्ट नहीं होता। वे यह समझ ही नहीं पाते कि जैविक सृष्टि से भिन्न रचना अनेक पिताओं की संतान होती है” [15]। चतुर्वेदी जी मानते हैं कि साहित्य में विचार-तत्व का अधिकाधिक घुलना जितना जरूरी होता गया है उतना ही जरूरी हुआ है उसे विचारधारा के दबाव से मुक्त रखना। आधुनिक कवि शमशेर ने मार्क्सवाद की वैज्ञानिकता को स्वीकार करते-करते इस बात को अपने ढंग से यों कहा है, 'कविता में सामाजिक अनुभूति काव्य-पक्ष के अंतर्गत ही महत्वपूर्ण हो सकती है।' यही वजह है कि कविता में छन कर आया हुआ अनुभव पक्षधर नहीं रह जाता, विचार और समझ तक का स्तर पक्षधरता का हो सकता है। शमशेर की अपनी कविता उनकी इस मान्यता का पुष्ट प्रमाण है। नयी कविता और शमशेर की सफलता आधुनिक युग की वैचारिकता को अनुभव और अनुभूति में रूपांतरित करने में है। विचार से पोषित पर विचारधारा के दबाव से मुक्त, यह रचना-प्रक्रिया आधुनिक साहित्य-चिंतन के केंद्र में है।

साहित्य और विचारधारा के संबंध की ऐतिहासिक परंपरा की पड़ताल करते हुए कुँवर नारायण लिखते हैं कि हमारे यहाँ “साहित्य और विशेष रूप से साहित्य-समीक्षा का विकास विचारकों और विचारों के घनिष्ठ संपर्क में होता रहा है, पर उनसे अनुशासित या आतंकित कभी नहीं रहा। शब्द, अर्थ और भाषा को लेकर जिस लंबी बहसों से भारतीय काव्यशास्त्र भरा पड़ा है वह आज हमें पश्चिम में हो रहे भाषा-शास्त्र और साहित्य शास्त्र में हो रहे कामों के बहुत नजदीक लगता है” [16]। जरूरत है उसकी प्रासंगिकता को एक वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में जांचने-परखने की। दूसरी बात यह कि हमारे यहाँ रचनात्मक साहित्य के आधार पर ही साहित्य सिद्धांत बनते रहे और उनसे आकलित भी होते रहे। बाद में उन नियमों पर पुनर्विचार भी नए साहित्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किया गया। कुँवर नारायण कहते हैं कि “भारतीय समीक्षाशास्त्र के विकास की मूल मानसिकता शास्त्रार्थ और खंडन-मंडन की आवश्यकता को पूरी तरह आत्मसात किए हुए विकसित हुई। ...भारतीय दार्शनिक परंपरा जिन मानों में मूलतः आलोचनाधर्मी है, आलोचनाशास्त्र का विकास लगभग उन्हीं अर्थों में दार्शनिक पद्धति पर हुआ। संस्कृत के साहित्यशास्त्री दर्शन और साहित्य दोनों के प्रकांड पंडित, गूढ़ मीमांसक और कुशल तार्किक थे। पूर्ववर्ती आचार्यों के अनन्य भक्त नहीं, उनके ठीठ आलोचक थे। उन्हें अपने मतों की चुनौती तो स्वीकार थी

परंतु असहमति के अधिकार को चुनौती कतई स्वीकार नहीं थी। यह एक स्वस्थ और वैज्ञानिक परंपरा थी जिस पर चलकर संस्कृत साहित्यशास्त्र के छः सम्प्रदाय रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य विकसित हुए” (आज और आज से पहले, पृ. 72)। तात्पर्य यह कि विचारों के दबाव से मुक्त रहकर मौलिक चिंतन और रचनात्मक लेखन के साथ सैद्धांतिक निर्माण की परंपरा हमारे यहाँ विद्यमान रही है। आ. रामचन्द्र शुक्ल ने इसी परंपरा में पश्चिमी आलोचना के प्रति खुला दृष्टि रखकर हिन्दी आलोचना का विकास किया।

कुँवर नारायण का मानना है कि मनुष्य की सारी समस्याओं का हल किसी एक विचारक अथवा विचारधारा के द्वारा संभव नहीं। अतः हर क्षेत्र के विचारकों ने इसके लिए कुछ-न-कुछ प्रयत्न किया है, उनका योगदान रहा है। इस सदी में डार्विन, मार्क्स, फ्रायड, आइन्स्टाइन आदि के विचारों ने हमारे पूरे सोच-समझ को प्रभावित किया है। विभिन्न विषयों पर ही नहीं विभिन्न कलाओं पर भी उनका भरपूर प्रभाव रहा है। “बड़े विचारों का प्रभाव या दबाव कलाओं को अक्सर रचनाशील ढंग से भी उकसाता है, बशर्ते कि दोनों के बीच एक खुला और उदार रिश्ता बनता हो। 'आधुनिकतावादी' विचारों ने अगर हमें काफ़का या जेम्स ज्याँयस जैसे उपन्यसकार दिये तो शायद 'मार्क्सवादी' आग्रहों ने ब्रेख्त और मारकेज जैसे रचनाकार भी। खास बात है, इन साहित्यकारों ने साहित्य की अपनी जमीन को विचारों के तहत संकुचित नहीं होने दिया, बल्कि उसे विस्तृत करने के लिए विचारों को अपनी तरह इस्तेमाल किया” (आज और आज से पहले, पृ. 67)। साहित्य में विचारधारा का समावेश इसी रूप में होता है। “एक बड़ा साहित्य विभिन्न विचारों की वैधता के लिए खुद प्रमाण होता है, अपनी प्रामाणिकता का आधार दूसरे विचारों या किसी विचारधारा को नहीं बनाता। शेक्सपियर या कबीर या तुलसीदास का साहित्य किसी एक विचार का पुष्टिकरण नहीं है: वह पूरे जीवन की सच्चाई है जिससे किसी विचार की वैधता सिद्ध होती है। साहित्य का पक्ष जिस जीवन का पक्ष है वह किसी भी 'वाद' से ज्यादा पुराना है, और ज्यादा विकासशील भी। उसका अपना जीवन-विवेक किसी भी बड़े विचार द्वारा हँकाये जाने से इंकार करता है” (आज और आज से पहले, पृ. 6)।

### निष्कर्ष

निष्कर्ष यह कि अधिकांश नये कवि-आलोचक विचारधारा की अपेक्षा बौद्धिकता और विवेक को महत्व देते हैं जो रचना में विचारों का नियमन करती है। मुक्तिबोध की दृष्टि में यथार्थ की सापेक्षता में ही वैचारिक दृष्टिकोण और जीवन विवेक का विकास और नियमन होना चाहिए। जबकि प्रगतिवादी आलोचकों का मानना है कि रचना में वास्तविकता की कलात्मक अभिव्यक्ति मार्क्सवादी दृष्टिकोण रखते हुए ही होना चाहिए। अतः हम कह

सकते हैं कि बिना विचारधारा के कोई साहित्य नहीं लिखा जा सकता है। इसे हम जीवन-विवेक या दृष्टिकोण भी कह सकते हैं। विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता जरूरी है लेकिन वह रचना पर आरोपित नहीं होना चाहिए साथ ही वह यथार्थ-सापेक्ष होनी चाहिए। विचारधारा के साथ साहित्य में संवेदना अथवा भावधारा का होना भी जरूरी है और इसके साथ-साथ रचनाकार की कलात्मक प्रतिभा शैली के माध्यम से साहित्य में अभिव्यक्त होकर साहित्यकार की वैयक्तिक पहचान कराती है।

### संदर्भ ग्रंथ

- [1]. आत्मनेपद, अज्ञेय ; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण, 2003, पृ.146।
- [2]. सर्जना और संदर्भ, अज्ञेय ; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2004, पृ.48
- [3]. दूसरा सप्तक, सं. अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा पेपरबैक संस्करण, 2002, पृ.138
- [4]. मानव मूल्य और साहित्य, धर्मवीर भारती ; भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, चौथा संस्करण , पृ.40-41
- [5]. हिन्दी साहित्य की समस्याएँ, सं. डॉ. रघुवंश ; हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ; प्रथम संस्करण, 1986, पृ.135
- [6]. इतिहास और आलोचना, नामवर सिंह ; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथी आवृत्ति, 2009, पृ.23
- [7]. मुक्तिबोध रचनावली: पाँच ,सं. नेमिचंद्र जैन; राजकमल प्रकाशन, द्वितीय आवृत्ति, 2007, पृ.149
- [8]. नयी समीक्षा, अमृतराय ; हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, अप्रैल, 1982, पृ.9
- [9]. साहित्य की समस्याएँ, शिवदान सिंह चौहान ; स्वराज प्रकाशन, दिल्ली ; द्वितीय संस्करण, 2002, पृ.46, 47
- [10]. आस्था और सौंदर्य, रामविलास शर्मा ; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2009, पृ.170
- [11]. शब्द और कर्म, मैनेजर पाण्डेय ; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1997, पृ.13
- [12]. उपन्यास और लोक जीवन, रैल्फ फॉक्स, अनु. नरोत्तम नागर ; पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नईदिल्ली, दूसरा संस्करण, अप्रैल 1979, पृ.6
- [13]. कुछ और गद्य-रचनाएँ, शमशेर बहादुर सिंह ; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1992, पृ.15

- [14]. आलोचना का द्वन्द्व, देवी शंकर अवस्थी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति 2009, पृ.58
- [15]. साहित्य के नये दायित्व, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद आवृत्ति 2002, पृ.28
- [16]. आज और आज से पहले, कुँवर नारायण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृत्ति, 1999, पृ.68